International Journal of Advanced Educational Research
ISSN: 2455-6157; Impact Factor: RJIF 5.12
www.educationjournal.org
Volume 2; Issue 3; May 2017; Page No. 167-170

तुलसी काव्य में विभिन्न प्रकार के सखा और उनके स्वभावानुसार रस का बोध

डॉ0 सुरसरि तरंग मिश्र

प्रवक्ता–हिन्दी, उ0प्र0 सैनिक स्कूल, लखनऊ, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

सामान्य प्राणी का सामर्थ्य, ऐश्वर्य और विवेक अति सीमित होता है, आकांक्षा ओर सवार्थ प्रबल। अतः कहीं न कहीं मैत्री भंग या शिथिल अवश्य पड़ जाती है किन्तु यदि मित्र परमात्मा ही हो जाए ओर जीव अपनी सीमाओं का प्रदर्शन करने भी लग जाए तो भी वह उसकी भूल–चूक का सुधार करते हुए मैत्री को अक्षय ओर अमर बना देता है उसके सारे कालुष्य को दूर कर देता है। उसे सांसारिक वैभव तो प्रदान करता ही है कीर्ति अमर करता ही है, अपना लीला सहचर बनाकर चिर सायुज्य भी प्रदान कर देता है।

उद्देश्य

श्री राम ने स्वतः शिव, निषादराज, सुग्रीव, विभिषण तथा युद्ध में साथ देने वाले समस्त वानरों को अपना मित्र कहा है। इन मित्रों की प्रकृति पर विचार करके इन्हें तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है।– अति विशिष्ट मित्र, विशिष्ट मित्र, सामान्य मित्र।

अति विशिष्ट मित्र

'शिव'– तुलसीदास जी ने श्री शिव को राम का सेवक, स्वामि और सखा तीनों बताया है किन्तु यदि पूरे सम्बन्धों पर विचार किया जाये तो उनमें प्रबल सखा भाव के ही दर्शन होते हैं। वस्तुतः शिव अपनी अतिशय विनम्रता के कारण राम को स्वामी ही मानते हैं और राम भी उन्हें स्वामी मानकर विनीत होते हैं अर्थात् दोनों ही समता की पृष्ठभूमि पर स्थित हो जाते हैं। सती द्वारा सीता का रूप बनाने और शिव जी द्वारा उनके त्याग देने के पश्चात् पार्वती का जन्म होता है। उनका तप प्रारम्भ होता है और इधर शिव के हृदय में राम का प्रेम अत्यंत प्रबल होता चला जाता है। राम प्रकट होकर अनेक प्रकार से उनकी सराहना करते हुए पार्वती से विवाह करने का अनुरोध करते हैं जिसे शिव जी उनकी आज्ञा समझकर स्वीकार करते हैं। इस पूरे प्रसंग में दोनों ओर दास्य भाव के होते हुए भी मैत्री का आग्रह ही प्रकट होता है–

बहु प्रकार संकरहि सराहा। तुम्ह बिनु अस ब्रतु को निरबाहा।
बहुबिधि राम सिवहि समुझावा। पारबती कर जन्मु सुनावा।।
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपा निधि बरनी।

यह मैत्री शिव विवाह से स्पष्ट प्रकट हो जाती है जब विष्णु उनकी विचित्र बरात पर व्यंग्य करते हैं और शिव जी उस व्यंग्य को सुनकर प्रेम में भर जाते हैं। रामेश्वर स्थापना प्रसंग में श्रीराम का कथन उनकी एकाकार समता का बोधक है–

.....सिव समान प्रिय मोहि न दूजा।
शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा।।
संकर बिमुख भगति चह मोरी। सो नारकी मूढ़ मति थोरी।।
संकर प्रिय मम द्रोही सिव द्रोही मम दास।
ते नर करहिं कलप भरि घोर नरक महुँ बास।।[1]

शिव जी का रसबोध

शिव जी ने प्रभु की सेवा करने के लिए ही हनुमान का अवतार ग्रहण किया क्योंकि मित्र रूप में वे उस प्रकार से सेवा न कर पाते जैसा वे चाहते थे किन्तु जब भी हनुमान के ऊपर प्रभु का विशिष्ट अनुग्रह हुआ उन्होंने अवर्णनीय आनन्द का अनुभव किया। इसके दो उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

1. प्रभु पहिचानि परेउ गहि चरना। सो सुख उमा जाइ नहिं बरना।
पुलकित तन मुख आव न बचना। देखत रूचिर बेष कै रचना।[2]

श्रीराम से प्रथम भेंट होने पर हनुमान जी उनके चरणों में प्रणत होते हैं।

सीता की खोज कर लौटने और प्रभु द्वारा कृतज्ञता ज्ञापित करने पर हनुमान जी उनके चरणों पर गिर पड़ते हैं। उस स्थिति का स्मरण कर शिवजी के हृदय में जो 'रस बोध' होता है वह इस प्रकार है–

प्रभु कर पंकज कपि के सीसा। सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा।।
सावधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुन्दर।।[3]

वशिष्ट मित्र

निषादराज, सुग्रीव ओर विभीषण श्रीराम के विशिष्ट मित्र हैं। इनमें निषादराज 'अहेतुक' तथा सुग्रीव ओर विभीषण हेतुक' एवं 'आर्त' मित्र हैं। इसीलिए निषादराज की मित्रता प्रारम्भ से अन्त तक समान रूप से बनी रहती है न तो उसमें स्वार्थ का कहीं समावेश रहता है और न ही मित्रता में कहीं प्रमादि या गतिरोध उत्पन्न होता है। यद्यपि निषादराज श्रीराम को अपना प्रभु ही स्वीकार करते हैं किन्तु श्रीराम उसे परम मित्र मानते हुए भरत के समान प्रिय बताते हैं। यहाँ थोड़ी कठिनाई अवश्य हो सकती है कि निषादराज जब राम को अपना स्वामी और स्वयं को अपना दास मानता है तो उसको सेवक–सेव्य भाव के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। किन्तु ध्यान रहे कि श्रीराम उसे सेवक नही अपना मित्र ही स्वीकार करते है। अस्तु सखा संबंध पर भी विचार करना चाहिए। श्रीराम ने उसे स्वयं सखा कहकर संबोधित किया है–'कहेहु सत्य सब सखा सुजाना'।[4] लक्ष्मण भी उन्हें सखा कहकर सम्बोधित करते हैं–'सखा समुझि असि परिहरि मोहू'।[5] गोस्वामी जी भी उसे राम का सखा स्वीकार करते हैं–'लखन सखाँ सब कीन्ह सुपासू'।[6] अनेक अन्य स्थलों पर उसके सख होने के प्रमाण हैं यथा– 'तब रघुबीर अनेक बिधि सखहिं सिखावन दीन्ह'।[7] श्रीराम के साथ लक्ष्मण और भरत भी उसे सखा ही स्वीकार करते हैं–'सखा बचन सुनि उर धरि धीरा'[8] 'चले सखा कर सों कर जोरे'[9] 'राम सखा कर दीन्हे लागू। चलत देहँ धरि जनु अनुरागू' राम सखा तेहि समय देखावा। सैल सिरोमनि सहज सुहावा।[10] सखा वचन सुनि विटन निहारी। उमगे भरत बिलोचन बारी।[11] सखहि सनेह बिबस मग भूला'[12] सानुज

सखा समेत मगन। बिसरे हरस सोक सुख दुख गन।[13] राम सखा रिसि बरबस भेंटा। जनु महिं लुठत सनेह समेंटा।[14] आदि–आदि।
इन सन्दर्भों का विवेचन करते हुए इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि श्रीराम, भरत, लक्ष्मण, वसिष्ठ तथा तुलसीदास–सभी ने निषादराज को श्रीराम का मित्र स्वीकार किया है। लक्ष्मण ओर भरत ने तो राम के मित्र के साथ सहज मित्रता स्थापित कर ही ली है वशिष्ट के सम्मुख राम मित्र होना निषाद का एक अति विशिष्ट गुण होकर उभरता है जो उसे सुपात्रता की चरम ऊँचाइयों तक पहुँचाकर अंक में समेट लेने की उत्कण्ठा को सफल करता है। निषादराज के पूरे प्रकरण में कहीं भी उसका स्वार्थ दिखाई नही देता अपितु उसकी सेवा, साहचर्य और त्याग भावना ही उभरकर सामने आती है। उसकी इन विशेषताओं को उसकी अतिशय विनम्रता और भी उद्‌भाषित करती है।
सुग्रीव अत्यंत आर्त भयातुर एवं निष्कासित जीवन व्यतीत कर रहे थे। यद्यपि हनुमान जैसे शौर्य ओर बुद्धि के धनी उनके मंत्री तो थे किन्तु उनका संकट ज्यों का त्यों था। सुग्रीव न तो श्रीराम के व्यक्तित्व से परिचित थे न गुणों की गरिमा से, किंतु हनुमान की मध्यस्थता से अग्नि की साक्षी में श्रीराम ने उनसे मैत्री स्थापित की उनके दुःख सुने ओर उन्हें अभयदान दिया–'सखा सोच त्यागहुँ बल मोरे सब बिधि घटक काज मैं तोरे'।[15] तथा, 'जौ कुछ कहेउ सत्य सब कोई। सखा बचन मम मृषा न होई'।[16] तथा श्रीराम सब विधि घटब काज मैं तोरे का संकल्प प्रीति में मर्यादा की रीति तोड़कर निभाते है। उन्हें छिपकर बालि का वध करना पड़ता है और पूरे सम्पर्क भर वे सुग्रीव का यथेष्ठ सम्मान करते हैं। हाँ सीता की खोज कराने के कार्य में आलस्य करने पर वे सुग्रीव के प्रति क्रोधित होते है वह भी संभवतः लक्ष्मण को प्रसन्न करने के लिए। किन्तु, सुग्रीव नितान्त सांसारिक मित्र बन जाते हैं। भोग विलास में डूब जाते हैं बाद में उन्हें इसका पश्चाताप भी होता है और वे इसे राम की प्रबल माया मानते हुए नारी के आकर्षण के प्रभाव को सहज रूप से स्वीकार करते हैं–

अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौ दाया।।
बिषय बस्य सुर नर मुनि स्वामी। मैं पावँर पसु अति कामी।।
नारि नयन सर जाहि न लागा। घोर क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ पाँस जेहिं गर न बँधाया। सो नर तुम्ह समान रघुराया।।
यह गुन साधन ते नहिं होई। तुम्हरी कृपाँ पाव कोइ कोई।।
तब रघुपति बोले मुसुकाई। तुम्ह प्रिय मोहि भरत जिमि भाई।।[17]

इसके पश्चात् राम के प्रति सुग्रीव की निष्ठा सदैव ही बनी रहती हे और वे राम के विशिष्ट मित्र के रूप में विख्यात होते हैं।
विभीषण भी श्रीराम के आर्त मित्र हैं। उन्हें भी भाई द्वारा अपमानित करके निकाल दिया जाता है वे श्रीराम के चरण–शरण में आते हैं। आते समय उनके मन में श्रीराम के चरण–दर्शन के प्रति बड़ी उत्कंठा हाती है और मन–भाव गद्‌गद। श्रीराम उन्हें भी पहले ही सखा कहकर उनकी कुशल–क्षेम पूछते हैं–खल मंड़ली बसहु दिन राती। सखा धरम निबहइ केहि भाती।[18] सुनहुँ सखा निज कहऊँ सुभाऊ। जान भुसुण्डि सम्भु गिरिजाऊ।[19] प्रभु के द्वारा अपने आपको बार–बार लंकेश शब्द से सम्बोधित किये जाने पर विभीषण अपने ह्रदय की इच्छा को विनम्रता से प्रकट करते हैं–
उर कछु प्रथम बासना रही।[20] और श्रीराम अपने मित्र की छिपी हुई इच्छा को उनकी अनिच्छा बताते हुए बड़े संकोच के साथ पूर्ण करते हैं–
'जदपि सखा तब इच्छा नाहीं। मोर दरसु अमोघ जगमाहीं।'[21] 'असि कहि राम तिलक तेहि सारा। सुमन बृष्टि नभ भई अपारा।'[22] जो संपति सिव रावनहिं दीन्ह दिए दस माथ। सोइ संपदा विभीषनहिं, सकृचि दीन्ह रघुनाथ।[23] इसके पश्चात् श्रीराम ओर विभीषन की मित्र निष्ठा समान रूप से बनी रहती है। सुग्रीव ओर विभीषण दोनों ही भाइयों द्वारा निष्कासित भाइयों के मरने के हेतु ओर उनकी पत्नियों के पति बने। श्रीराम इसे जानते हुए भी केवल अत्यंत स्नेह के कारण स्वप्न में भी इन दोषों को गम्भीरता से नहीं लेते इसे गोस्वामी जी स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं–

सघन चोर मग मुदित मन, धनी गही जो फेंट।
तिमि सुग्रीव विभीसनहिं भई भरत की भेंट।।[24]
जेहि अघ बधेउ ब्याध जिमि बाली।
फिरि सुकंठ सोइ कीन्हि कुचाली।

सोइ करतूति बिभीसन केरी। सपनेहुँ सो न राम हियँ हेरी।[25] किन्तु गोस्वामी जी के विभीषण अतिशय विनम्र ओर कृतज्ञ मित्र हैं जो सदैव ही श्रीराम को नीति ओर धर्म का ही मार्ग सुझाते हैं और उनके प्रति पूज्य भावना रखते हैं। निराला जी के विभीषण अपेक्षाकृत अधिक समर्थ मित्र के रूप में उभरकर श्रीराम को फटकार तक देते हैं–

रावण–रावण लम्पट खल कल्मष गताचार
जिसने हित कहते किया मुझे पाद प्रहार,
बैठा उपवन में देगा दुख सीता को फिर?
कहता रण की जय–कथा पारिषद–दल से घिर,
सुनता–बसन्त में उपवन में उपवन में कल कूजति पिक,
मैं बना किन्तु लंकापति धिक्र–राघव धिक्–धिक।[26]

श्रीराम सुग्रीव और विभीषण के प्रति आजीवन कृतज्ञ रहते हैं। अयोध्या से लौटते समय अपने ही हाथों से उन्हें वस्त्राभूषण पहना, सम्मानित कर विदा करते है–

तब प्रभु भूसन बसन मँगाए। नाना रंग अनूप सुहाए।
सुग्रीवहिं प्रथमहिं पहिराए। बसन भरत निज हाथ बनाए।
प्रभु प्रेरित लछिमन पहिराए। लंकापति रघुपति मन भाए।[27]

सामान्य मित्रगण–यद्यपि सभी वानर, भालू श्रीराम को प्रभु स्वीकार करते हैं और अपने स्वामी श्रीराम तथा जाम्बवान की आज्ञा पर युद्ध करते हुए प्राण तक देने को तत्पर हो जाते है; दे भी देते है। श्रीराम उनके इस त्याग को बारम्बार स्वीकार कर कृतज्ञ होते हैं। लंका में भी–'तुम्हरे बल मैं रावन मारयो। तिलक विभीषन कहँ पुनि सारयो।[28]
तथा अयोध्या में भी 'पुनि रघुपति सब सखा बोलाए। मुनि पद लागहु सकल सिखाए।

ये सब सखा सुनहुँ मुनि मेरे। भए समर सागर कहँ बेरे।

मम हित लागि जन्म इन्ह हारे। भरतहुँ ते मोहिं अधिक पियारे।[29] और इस प्रकार सामान्य से शाखा मृग प्रभु के सामान्य मित्र होते हुए भी अति विशिष्ट बन जाते हैं और प्रभु के द्वारा प्राप्त दान–मान से उनकी सन्निकटता और कृपा से वे अपने आपको अत्यंत कृत्कृत्य और आह्‌लादित अनुभव करते हैं– :सुनि प्रभु वचन मगन सब भए। निमिस–निमिस उपजत सुखनए'।[30] वस्तुतः जिस प्रकार क्षण–प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाला सौन्दर्य ही रमणीय होता है। (क्षणैः–क्षणैः यन्नवतामुपैति तदैव रूपं रमणीयतायाः[31]) उसी प्रकार ब्रह्म सुख ही नित्य–निरन्तर नूतनता ग्रहण करते हुए बढ़ता ही जाता है। उसमें कभी भी बासीपन नहीं आता क्योंकि वह चिन्मय है।

सखा में प्रभु के ऐश्वर्य का स्थापना

शिव जी श्रीराम के यथार्थ सखा है भक्त भी है– निरन्तर उनका नाम रटने वाले। यद्यपि वे स्वयं समर्थ हैं जगदीश हैं। किन्तु गोस्वामी जी ने यही निरूपित किया है कि उनमें यह सामर्थ्य राम–नाम के निरन्तर स्मरण द्वारा ही आया है। निम्नांकित पंक्तियाँ प्रमाण स्वरूप देखी जा सकती हैं–

बिधि हरि हर मय बेद प्रान सो। अगुन अनूपम गुन निधान सों।

महामंत्र जोइ जपत महेसू। कासी मुकुति हेतु उपदेसू।[32] निषादराज, सुग्रीव तथा वानरगण कोई अति विशिष्ट व्यक्ति नहीं थे किसी का महत्व जंगल तक सीमित रह गया था। कोई भयभीत निष्कासित और दरिद्र जीवन जी रहा था किसी को लात मारकर राज्य से निकाल दिया गया था। और कोई–कोई गिरि वनों में ऐसा उपेक्षित जीवन जी रहे थे कि उन्हें नर होने की मान्यता भी नहीं प्राप्त थी (वा नर? क्या वे नर हैं?) किन्तु जब राम ने उन्हें अपना सगा बना लिया तो उनके गुणों की ऐसी सुगन्धि फूटी की सारा संसार आह्लादित हो गया। निषादराज मे इतनी पात्रता आ गई कि भरत और वशिष्ठ उन्हें दौड़कर आलिंगन करने लगे। सुग्रीव वानराधिपति और विभीषण लंकेश हो गये। स्वाभाविक असभ्य वानर जिन्हें उठने–बैठने तक की कला नहीं आती थी उन्हें भी प्रभु ने अपने समान कर लिया–

प्रभु तरू तर कपि डार पर ते किए आपु समान।[33]

सुग्रीव और विभीषण जितने अंतरंग बन गए है उनका परिचय निम्नांकित पंक्तियों से मिल सकता है–

प्रभु कृत सीस कपीस उछंगा। बाम दहिन दिसि चाप निषंगा।
दुहुँ कर कमल सुधारत बाना। कह लंकेश मंत्र लगि काना।[34]

गोस्वामी जी इन वानरों और विभीषण के चरणों की वन्दना करते हैं–

कपिपति रीछ निसाचर राजा। अंगदादि जे कीस समाजा।
बन्दउँ तिनके चरन सुहाए। अधम सरीर राम जिन्ह पाए।[35]

विभीषण जैसे ही चरणों की ओर उन्मुख हुए शिव जी उनकी प्रशंसा करने लगे साधु और रावण के समस्त ऐश्वर्य का मूल बताने लगे–

साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्याण अखिल कै हानी
रावन जबहिं बिभीषन त्यागा। भयउ विभव बिनु तबहिं अभागा।[36]

और यह बात वे शिव जी कह रहे हैं जिन्होंने रावण को लंकाधिकारी स्वीकार कर प्रतिष्ठित किया था।

इस प्रकार श्रीराम के मित्रों में भी ऐश्वर्य का विस्तार देखने को मिलता है और यह ऐश्वर्य श्रीराम का दिया हुआ ऐश्वर्य है। यद्यपि मित्रों मे सेवक की अपेक्षा ऐश्वर्य का विस्तार कम हुआ। इसीलिए वे हनुमान जैसे पूज्य नहीं बन पाए।

सख्य भाव में भी दास्य भाव की प्रधानता

तुलसी के काव्य में अनेक ऐसे पात्र आते हैं जो दास भी हैं और सखा भी। आश्रय रूप में वे स्वयं को दास ही माते हैं और आलम्बन राम को स्वामी। अनुभावों और संचारियों की अनुभूति उन्हें इसी स्तर पर होती हैं किन्तु राम उन्हें दास के स्तर से ऊँचे उठाकर समानता के धरातल पर ले आते हैं ओर उन्हें अपना मित्र बना लेते हैं। यह राम की अतिशय विनम्रता, कृतज्ञता ओर उदारता है कि जो व्यक्ति उनके सेवक बनने का भी पात्र नहीं थे सामान्य शिष्टाचार जिसे ज्ञात नही थे, उन्हें वे सभी के सम्मुख निष्कपट भाव से परममित्र हैं स्वीकार करते हैं किन्तु गोस्वामी जी तो 'सेवक–सेव्य भाव बिनु भव न तरिय उरगारि' का सिद्धान्त आत्मसात किए बैठे हैं। इस तत्त्व को उन्होंने भाव, विचार और विवेक की गहराइयों तक समझा और अनुभव किया इसलिए वे अपने प्रभु की महत्ता को 'साग बनिक मनि गुन गन जैसे', समझ नहीं पाए हैं तो भी उन्होंने जितना समझाा है वह इतना अधिक है कि उनके राम, परात्पर पूर्णब्रह्म 'विधि हर संभु नचावन हारे', अखिल ब्रह्माण्ड नायक, परम कृपालु स्वामी ऐसे स्वामी जिनको केवल दास बनकर ही पाया जा सकता है। इसीलिए वे सभी को उनका दास ही सिद्ध करते हैं। भगवान शंकर जैसे जगदीश भी, जिनमें राम में कुछ भी भेद नही दोनों एक ही तत्व दो रूप हैं, उनके दास बन जाते हैं। तो अन्य सखा तो उनके स्वभावतः दास हैं ही और यही भक्ति का उत्कर्ष बिन्दु भी हैं।

निष्कर्ष

गोस्वामी जी ने आदर्श मित्र के लक्षणों का उल्लेख करते हुए सहानुभूति, विनम्रता, कृतज्ञता, एकरसता, पापों का निवारण, गुणों का समावेश, गुण–कथन, दोष–गोपन आदि गुणों को मित्र का आवश्यक धर्म बताया है। इसे ही सखा धर्म भी कहते हैं। सामान्य सांसारिक मित्राों में भी ये लक्षण होने ही चाहिए किन्तु सामान्य प्राणी का सामर्थ्य, ऐश्वर्य और विवेक अति सीमित होता है, आकांक्षा ओर सवार्थ प्रबल। अतः कहीं न कहीं मैत्री भंग या शिथिल अवश्य पड़ जाती है किन्तु यदि मित्र परमात्मा ही हो जाए ओर जीव अपनी सीमाओं का प्रदर्शन करने भी लग जाए तो भी वह उसकी भूल–चूक का सुधार करते हुए मैत्री को अक्षय ओर अमर बना देता है उसके सारे कालुष्य को दूर कर देता है। उसे सांसारिक वैभव तो प्रदान करता ही है कीर्ति अमर करता ही है, अपना लीला सहचर बनाकर चिर सायुज्य भी प्रदान कर देता है। शिव निषादराज, सुग्रीव, विभीषण आदि वानरराज श्रीराम के मित्र भी हैं सेवक भी। सेवक वे अपने आप मानते हैं मित्र श्रीराम उन्हें मानते हैं। उनकी अक्षम्य बुराइयों के लिए वे बाहरी क्रोध ही दिखाते हैं भीतर से उनके प्रति उनके हृदय में करूणा का सागर हिलोरें मारता ही रहता है। पापान्न निवारण के लिए यह आवश्यक भी होता है। अस्तु तुलसी के काव्य में सखाभाव बोधपूर्ण स्वतंत्र न होकर सेवक–सेव्य भाव से समन्वित होकर और भी अधिक आह्लादक और स्थायी बन गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. रामचरितमानस–6/3/4–6;
2. रामचरित मानस/4/2/3;
3. रामचरितमानस–5/33/1–2;
4. रामचरितमानस–2/88/4;
5. रामचरितमानस–2/94/1;
6. रामचरितमानस–2/1051;
7. रामचरितमानस–2/111/1;
8. रामचरितमानस–2/202/1;
9. रामचरितमानस–2/198/3;
10. रामचरितमानस–2/216/2;
11. रामचरितमानस– 2/225/3;
12. रामचरितमानस– 2/238/1;
13. रामचरितमानस– 2/238/3;
14. रामचरितमानस– 2/240/1;

15. रामचरितमानस–4 / 7 / 5;
16. रामचरितमानस–4 / 21 / 1–4;
17. रामचरितमानस–5 / 48 / 1;
18. रामचरितमानस–5 / 46 / 3;**1**
19. रामचरितमानस–5 / 48 / 1;
20. रामचरितमानस–5 / 49 / 3;
21. रामचरितमानस–5 / 49 / 55;
22. रामचरितमानस–5 / 49 / 5;
23. रामचरितमानस–5 / 49 / ख;
24. दोहावली–207;
25. रामचरितमानस–1 / 29 / 3–4;
26. अनामिका, निराला, पृ0 सं0–160**;**
27. रामचरितमानस–7 / 17 / 3–4;
28. रामचरितमानस–6 / 118 / 2;
29. रामचरितमानस–7 / 8 / 3–4;
30. रामचरितमानस–7 / 8 / 5;
31. शिशुपालवधम्–माघ;
32. रामचरितमानस–1 / 19 / 1;
33. दोहावली–50;
34. रामचरितमानस–6 / 11 / 3;
35. रामचरितमानस–1 / 18 / 1;
36. रामचरितमानस–6 / 42 / 2;